भूमिका

प्राय: अध्यात्म सम्बन्धी सत्संगों में वा योगसाधना शिविरों में जब सन्ध्योपासना वा योग साधना सम्बन्धी चर्चा चलती है वा तत्सम्बन्धी जब व्याख्यान-प्रवचन होते हैं, तो वहाँ प्रसंगवश यम-नियमों की बात अवश्य ही आ जाती है। यम-नियमों की बात श्रोताओं के सम्मुख उस प्रसंग में कुछ ऐसे ढंग से आ जाती है कि जिस से उन्हें कुछ ऐसा प्रतीत होने लगता है कि जैसे सन्ध्योपासना वा योगसाधना के लिये उन की अत्यन्त आवश्यकता हो। जैसे गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय के जो वर्षों आचार्य रहे और उस के कुलपति भी रहे, वे माननीय आचार्य प्रियव्रत जी जब भी कहीं योग की बात आती है-साधना की चर्चा चलती है तो वे इस के लिये 'यम-नियमों को अत्यन्त आवश्यक ठहराते हैं।' वे प्राय: कहा करते हैं कि—"जो इन यम-नियमों का जी-जान से पालन करते हैं वे ही सच्चे साधक होते हैं–वे ही सच्चे योगी होते हैं–वे ही सच्चे प्रभु भक्त होते हैं; जो इनकी अवहेलना करके साधना करना चाहते हैं- उन्हें अपने उद्देश्य में सफलता मिलनी सम्भव नहीं।" लेखक ने स्वयं एक बार स्वर्गीय गुरुवर्य्य पूज्य स्वामी आत्मानन्द सरस्वती जी से बड़ी श्रद्धा से पूछा—"स्वामी जी! साधना के पथ पर अग्रसर होने के लिये मनुष्य को क्या–क्या करना चाहिये?" इस प्रश्न के उत्तर में स्वामी जी बोले–"वत्स! साधना के पथ पर हृदय से आगे बढ़ना चाहने वाले को सबसे पहले यम–नियमों का दृढ़ता से पालन करना चाहिये। यम–नियम साधना के लिये दृढ़ आधारशिला हैं। जो इनका

दृढ़ता से श्रद्धापूर्वक पालन करता है, वह फिर कहीं फिसलता नहीं, कहीं गिरता नहीं, वह तो तब अबाधगति से निरन्तर आगे ही आगे बढ़ता रहता है, सतत ऊपर ही ऊपर उठता रहता है। अतः प्रत्येक साधक का यह प्रथम कर्तव्य है कि वह इन यम-नियमों के पालन करने में सदा सजग रहे वा इन को आचरण में लाने में-व्यवहार में लाने में सर्वदा सर्वथा सावधान रहे।

साधना के प्रसंग में यम-नियमों के विषय में यह सब कुछ जब प्रायः लोग सुनते हैं तो स्वभावतः उन के हृदय में यह जिज्ञासा उत्पन्न होती है कि— ये "यम-नियम क्या हैं ?" उस जिज्ञासा की निवृत्ति के लिये फिर वे योगप्रिय-साधना प्रिय व्यक्ति प्रायः इधर-उधर, साधकों-उपासकों-ध्यानियों-योगियों से पूछना प्रारम्भ कर देते हैं कि—"आखिर ये 'यम-नियम हैं क्या ? जिनकी कि योग साधना में अत्यन्त अपेक्षा रहती है·········?" ऐसे महानुभावों को जिज्ञासुभाव से जब यह पूछते हुए "पूज्या माता दयावती बनाती" ने देखा, तो उनके हृदय में यह विचार उत्पन्न हुआ कि—"क्यों न एक छोटी सी पुस्तक ही "यम-नियम" के सम्बन्ध में प्रकाशित कर दी जाए, यह विचार मन में आते ही आगे चलकर उन्होंने मुझ (लेखक) से विचार विमर्श किया और उसी के आधार पर "यम-नियम" के सम्बन्ध में एक सरल सुबोध लघु पुस्तक प्रकाशित कराने का आग्रह किया। साथ-साथ उन्होंने यह निवेदन किया कि— "मेरा विचार ६ जून से सामवेद परायण यज्ञ कराकर १२ जून १९८२ को उसकी पूर्णाहुति पर वानप्रस्थाश्रम को दीक्षा लेने का है और इसी दीक्षायज्ञ की पूर्णाहुति के शुभ अवसर पर ही मेरा यह विचार है कि मैं 'यम-नियम' नामक पुस्तक अध्यात्म प्रेमी महानुभावों

में वितरित करूँ। अतः आप यदि यह पुस्तक तब तक मुझे प्रकाशित करा कर प्रदान कर सकें तो मुझे हार्दिक प्रसन्नता होगी।"

सो उन्हीं के आन्तरिक शुभ सङ्कल्प का ही परिणाम समझिये कि जो उनके वानप्रस्थाश्रम में प्रविष्ट होने के दीक्षान्त के शुभ अवसर पर यह 'यम-नियम' सम्बन्धी सरल सुबोध रूप में प्रकाशित हुई पुस्तक उन्हीं के मुख्य आर्थिक सहयोग से अध्यात्म-प्रेमी महानुभावों में वितरित की गई। काफी समय से इस पुस्तक का ४००० का प्रथम संस्करण समाप्त हो गया। जिज्ञासुओं की पुनः पुनः चाहना को देखकर "श्रद्धा साहित्य प्रकाशन" की ओर से पुनः इसको प्रकाशित कर स्वाध्यायशील साधनाप्रिय महानुभावों के हाथों में यह पुस्तक दी जा रही है। इसके स्वाध्याय एवं आचरण से उन्हें लाभ हुआ तो लेखक अपनी लेखनी एवं प्रकाशक अपने अर्थ को सार्थक समझेंगे।

विनीत—रामप्रसाद वेदालङ्कार, वेदरत्न

समर्पण

जिस परम पिता परमात्मा की अपार अनुकम्पा एवं अपने पूजनीय गुरुजनों के उदार हृदय से प्रदान किये हुए ज्ञान एवं आशीर्वाद के आधार पर "श्रद्धा साहित्य प्रकाशन" का यह उनत्तीसवाँ पुष्प "यम-नियम" एक सरल सुबोध व्याख्या, नामक पुस्तक का यह द्वितीय संस्करण मैं आप के कर-कमलों तक पहुँचा सका, उन्हीं के पावन चरणों में मेरा यह अल्प प्रयास समर्पित है।

विनीत—रामप्रसाद वेदालङ्कार, वेदरत्न

यम-नियम

[यम-नियम, एवं यम-नियमों में यमों की प्रधानता]

यों तो योग मार्ग के पथिक के लिये-साधना की राह के सच्चे राही के लिये 'यम-नियम' दोनों की ही अत्यन्त आवश्यकता है, परन्तु इन दोनों में से भी यमों की अधिक प्रधानता है, जैसा कि महर्षि मनु ने कहा—

यमान् सेवेत सततं न नित्यं नियमान्बुधः ।
यमान्पतत्यकुर्वाणो नियमान्केवलान् भजन् ॥

॥मनु० ४.२०२॥

(बुधः यमान् सततं सेवेत) विद्वान् यमों का सदा सेवन करे (न नित्यं नियमान्) केवल नियमों का ही नहीं। क्योंकि (यमान् अकुर्वाणः केवलान् नियमान् भजन् पतति) यमों का सेवन न करता हुआ जो केवल नियमों का ही सेवन करता रहता है वह गिर जाता है, भ्रष्ट हो जाता है, अपने लक्ष्य से च्युत हो जाता है।

यमों को प्रधानता इस कारण से दी जाती है कि यदि साधक इन का अपने जीवन में जी-जान से पालन करता है तो इन अहिंसा, सत्य, अस्तेय आदि से उस के चहुँ ओर के वातावरण पर, चहुँ ओर के समाज और राष्ट्र पर बड़ा ही उत्तम प्रभाव पड़ता है। सारा समाज उस से सुखी होता है, तृप्त होता है, विश्वस्त होता है, निर्द्वन्द्व होता है...।

पर अगर वह इन यमों का अतिक्रमण कर के केवल नियमों का ही पालन करता है–शौच सन्तोष तप स्वाध्याय आदि का अनुष्ठान करता है, तो इस से व्यक्तिगत रूप में तो उसे भले ही कुछ लाभ हो सकता है, परन्तु समाज को इससे कुछ विशेष लाभ नहीं होता। अतः यहाँ यमों को नियमों की अपेक्षा प्रधानता दी गई है। प्रकृत श्लोक के द्वितीय पाद (न नित्यं नियमान् बुधः) से नियमों का निषेध नहीं समझना चाहिये, अपितु नियमों की अपेक्षा 'यमों' की नित्यता–अधिक प्रधानता समझनी चाहिये।

याज्ञवल्क्य के मतानुसार—"ब्रह्मचर्य, दया, क्षमा, ध्यान, सत्य, अकुटिलता, अहिंसा, अचौर्य, मधुरता और इन्द्रिय-दमन"–ये १० 'यम' हैं तथा "स्नान, मौन, उपवास, यज्ञ, स्वाध्याय, इन्द्रिय-निग्रह, गुरुसेवा, पवित्रता, अक्रोध और अप्रमाद"–ये १० 'नियम' हैं।"[1]

मेधातिथि तथा गोबिन्दराज ने हिंसादि का त्याग 'यम' और वेदाभ्यास 'नियम' है, ऐसा (मनु० १०.१४७) की

१ "ब्रह्मचर्यं दया क्षान्तिर्दानं सत्यमकल्कता।
अहिंसाऽस्तेयमाधुर्ये दमश्चेति 'यमाः' स्मृताः॥
स्नानं मौनोपवासेज्यास्वाध्यायोपस्थनिग्रहाः।
'नियमा' गुरुशुश्रूषा शौचाक्रोधाप्रमादतः॥" इति
(या० स्मृ० ३-३१२-३१३)

व्याख्या में लिखा है। किसी आचार्य के मत में [1]"अहिंसा, सत्य, ब्रह्मचर्य, अकुटिलता और अचौर्य' ये ५ "यम" तथा 'अक्रोध, गुरुसेवा, पवित्रता, स्वल्पाहार और सदा प्रमाद-शून्यता' ये ५ नियम हैं। और किसी के अनुसार [2]"अक्रूरता क्षमा, सत्य, अहिंसा, इन्द्रिय-दमन, अस्पृहा, ध्यान, प्रसन्नता, मधुरता और सरलता'–ये १० "यम" हैं। अहिंसा, सत्य-भाषण, ब्रह्मचर्य, अकुटिलता, अचौर्य, ये ५ उपव्रत "यम" हैं। पवित्रता, यज्ञ, दान, स्वाध्याय, ब्रह्मचर्य, व्रत, उपवास, मौन और स्नान"–ये १० "नियम" हैं।

इस प्रकार यद्यपि ये 'यम-नियम' अनेकों आचार्यों के मत में भिन्न-भिन्न हैं, परन्तु महर्षि पतञ्जलि के मत में जो 'यम–नियम' हैं, वे दस हैं। ५ 'यम' और ५ 'नियम'।

---

१. अहिंसा सत्यवचनं ब्रह्मचर्यमकल्कता।
अस्तेयमिति पञ्चैते "यमा" वै परिकीर्तिताः॥
अक्रोधो गुरुशुश्रूषा शौचमाहारलाघवम्।
अप्रमादश्च सततं पञ्चैते "नियमाः" स्मृताः॥

२. आनृशंस्यं क्षमा सत्यमहिंसा दममस्पृहा।
ध्यानं प्रसादो माधुर्यमार्जवं च यमा दश॥
अहिंसा सत्यवचनं ब्रह्मचर्यमकल्कता।
अस्तेयमिति पञ्चैते यमाश्चोपव्रतानि च॥
शौचमिज्या तपो दानं स्वाध्यायोपस्थनिग्रहौ॥
व्रतोपवासौ मौनं च स्नानं च नियमा दश॥

धार्मिक जगत् में वा योगी उपासक–साधक जनों के संसार में जहाँ कहीं भी यम-नियमों की चर्चा की जाती है, वहाँ झट सब के द्वारा अर्थात् वक्ता और श्रोता दोनों के द्वारा सहज ही में यमों से महर्षि पतञ्जलि द्वारा प्रतिपादित अहिंसा–सत्य–अस्तेय–ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह (यो० २.३०) का तथा नियमों से शौच-सन्तोष-तप-स्वाध्याय और ईश्वर-प्रणिधान (यो० २.३२) का ही ग्रहण किया जाता है। इन यम-नियमों में पूर्वाचार्यों से अभिहित प्रायः सभी यम–नियमों का किसी न किसी रूप में अन्तर्भाव हो ही जाता है। और फिर ये अध्यात्मजगत् में सर्वत्र प्रसिद्ध एवं सर्व-ग्राह्य भी है। अतः इन्हीं महर्षि पतञ्जलि प्रतिपादित १० यम-नियमों की ही यहाँ इस पुस्तक में सरल सुबोध रूप से संक्षिप्त चर्चा की जायेगी–संक्षिप्त व्याख्या की जायेगी।

महर्षि मनु के अनुसार एक साधक को चाहिये कि वह इन यम–नियमों का निरन्तर पालन करे–यमों की अव-हेलना करके केवल नियमों के पालन में ही न लगा रहे। क्योंकि यमों का अतिक्रमण कर के जो केवल नियमों के पालन में ही लगा रहता है, वह अपने उद्देश्य से गिर जाता है।

यम-नियम

[1]योग के अङ्गों के अनुष्ठान से अशुद्धि के क्षीण हो जाने पर ज्ञान का प्रकाश विवेकख्याति पर्यन्त बढ़ता ही रहता है।

योग के अङ्गों के अनुष्ठान से चित्त के मल अर्थात् [अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश रूप पाँच पर्वों वाले] अशुद्धिरूप मिथ्याज्ञान का क्षय अर्थात् नाश हो जाता है। उस के नाश होने पर फिर सम्यक् ज्ञान की अभिव्यक्ति होती है। इसलिये जैसे-जैसे मनुष्य योग के अङ्गों का अनुष्ठान करता जाता है। वैसे-वैसे उस के चित्त की अशुद्धि भी क्षीण होती जाती है—वैसे-वैसे उस के चित का मल भी धुलता जाता है—वैसे-वैसे उस का चित्त भी निर्मल होता जाता है। और जैसे-जैसे उस के चित्त की अशुद्धि क्षीण होती जाती है—जैसे-जैसे उस के चित्त का मल धुलता चला जाता है—जैसे-जैसे उस का चित्त निर्मल होता चला जाता है, वैसे-वै उस के भीतर ज्ञान की दीप्ति बढ़ती जाती है—ज्ञान का प्रकाश बढ़ता जाता है। और यह ज्ञान की दीप्ति भी तब तक बढ़ती जाती है—यह ज्ञान का प्रकाश भी तब तक बढ़ता

---

१ योगाङ्गाऽनुष्ठानादशुद्धिक्षये ज्ञानदीप्तिराविवेकख्यातेः ॥ यो०द० २.२८ ॥

जाता है जब तक कि मनुष्य को प्रकृति और पुरुष के स्वरूप का ज्ञान न हो जाए।

इस प्रकार इन योग के अङ्गों का जो अनुष्ठान है वह जहाँ अशुद्धि के नाश का कारण है—वह जहाँ अशुद्धि के वियोग का कारण है, ऐसे जैसे कि फरसा-कुल्हाड़ा छेद्य-उखाड़ने योग्य लकड़ी के उच्छेद-उखाड़ने का कारण है, वहाँ वह विवेक-ज्ञान—सम्यक् ज्ञान का भी कारण है, ऐसे जैसे कि धर्म का आचरण दुःख के विनाश के साथ-साथ सुख का भी कारण है।

ये योगांग कौन से हैं—

यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहार – धारणाध्यानसमाधयो-ऽष्टावङ्गानि ॥ यो०द० २.२९ ॥

यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि ये उपासनायोग के आठ अङ्ग हैं।

[1]यद्यपि ये योग के आठों अङ्ग ही विवेकज्ञान के लिये—प्रकृति और पुरुष की पहिचान के लिए—आत्मा और परमात्मा के साक्षात्कार के लिये अत्यन्त आवश्यक हैं। अपने जीवन के परम उद्देश्य की प्राप्ति के लिये इनमें से किसी की भी अवहेलना नहीं की जा सकती, इनमें से किसी का भी अपलाप नहीं किया जा सकता,

१ इन सब अङ्गों का विस्तारपूर्वक वर्णन लेखक की "अष्टाङ्ग योग" नामक पुस्तक में देखिये।

इनमें से किसी की भी लापरवाही नहीं की जा सकती। परन्तु तो भी अनुभवी विद्वान् साधकों का अनुभव यही है कि इन योगाङ्गों में से जो प्रथम २ अङ्ग यम और नियम हैं वे योग की रीढ़ की हड्डी (Back bone) समझे जाते हैं। अतः यदि इन दोनों का विशेष रूप से दृढ़तापूर्वक पालन न किया जाए तो योग की गाड़ी चलती नहीं। यदि इन आधार रूप यम-नियमों को बढ़ी दृढ़ता और लग्न से अपनाया न जाए तो फिर योग का-साधना का भवन खड़ा नहीं हो पाता। इस लिये योग के मार्ग के—साधना के पथ के प्रत्येक सच्चे पथिक का यह कर्त्तव्य है कि वह प्रयत्न पूर्वक जी-जान से इन यम-नियमों का पालन करे। क्योंकि जब वह इन का सच्चे हृदय से पालन करने लगेगा तो फिर अगले अङ्गों का पालन करना उस के लिये बड़ा ही सहज हो जायेगा-बड़ा ही सुगम हो जायेगा।

अब ये 'यम-नियम' क्या हैं, इस पर जरा विचार करते हैं—

अहिंसा सत्यास्तेय ब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः ॥

यो०द० २.३० ॥

अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह, ये यम कहलाते हैं। और

शौच सन्तोष तपः स्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः ।

यो०द० २.३० ॥

शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वरप्रणिधान, ये नियम कहलाते हैं ।

यम-नियम शब्दों पर विचार

अब इन 'यमों' को यम और 'नियमों' को 'नियम' क्यों कहते हैं, यह विचारते हैं—

'यम' शब्द [1]"यम उपरमे" धातु से बनता है । अतः [2]'यम' उन्हें कहते हैं जिनके अनुष्ठान के द्वारा इन्द्रियों को विषयों से पृथक् किया जाता है–हटाया जाता है । इस प्रकार यम Negative हैं–निषेधात्मक हैं । इसलिये साधक को चाहिये कि वह अपनी उन वृत्ति-प्रवृत्तियों को रोके–हटाए–पृथक् करे जो कि उस के साधना के मार्ग में बाधक हैं । अर्थात् उसे चाहिये कि सर्वप्रथम वह अपने घर के कूड़े करकट को निकाल बाहर करे, और उसे साफ-सुथरा बनाए । उसे साफ-सुथरा, स्वच्छ-निर्मल बनाने के लिये उसे चाहिये कि वह अहिंसा का पालन करे, अर्थात् वह कभी हिंसा न करे; सत्य का पालन करे,

---

१ 'यम उपरमे'' [शान्त होना] भ्वादि परस्मैपद) यच्छति ।

१ यम्यन्ते उपरम्यन्ते निबर्त्यन्ते हिंसादिभ्य इन्द्रियाणि यैस्ते यमाः ।

अर्थात् वह कभी मिथ्या भाषण न करे; अस्तेय का पालन करे, अर्थात् वह कभी स्तेय-चोरी न करे; ब्रह्मचर्य का पालन करे—सदा सँयमी रहे, अर्थात् वह कभी व्यभिचार न करे; अपरिग्रह का पालन करे, अर्थात् वह कभी परि-ग्रह न करे—वह कभी संग्रह न करे।

इस प्रकार जब वह साधक मन वचन और कर्म से हिंसा, असत्य भाषण, चौरी, व्यभिचार और परिग्रह-संग्रह की वृत्ति-प्रवृत्तियों से अपने को पृथक् कर लेगा, हटा लेगा, तो इस से उस का हृदय शुद्ध हो जायेगा। अब उसे चाहिये कि वह अपने शुद्ध हुए इस हृदय को नियमों से अलङ्कृत करे।

अब [1]'नियम' उनको कहते हैं जिन को यमों के द्वारा अपने साफ-सुथरे, स्वच्छ-निर्मल हृदय में नियमित किया जाता है। अर्थात् ये नियम (Positive) हैं, विधेयात्मक हैं। यमों द्वारा स्वच्छ-निर्मल बने हुए हृदय को इन नियमों से अलंकृत किया जाता है। अतः साधकों को चाहिये कि वे नियमों अर्थात् शौच से अपने बाहर-भीतर को-अपने शरीर-मन को शुद्ध करें, सन्तोष-जो कुछ अपने कर्मों के आधार पर प्राप्त हो, उसी में ही सन्तुष्ट रहने का प्रयास करें, तन-मन इन्द्रियों और शरीर को वश में रखने के लिये

---

१. नियम्यन्ते कर्तव्यतया निश्चीयन्तेऽमीति नियमाः।

उचित रीति से तप करें ताकि भूख-प्यास, सर्दी-गर्मी, मान-अपमान आदि द्वन्द्वों को सहज ही सहन कर सकें। स्वाध्याय-मोक्ष की ओर ले जाने वाले शास्त्रों का स्वाध्याय करें, ओंकार आदि का लक्ष्याभिमुख होकर जप करें, ईश्वर प्रणिधान-अपने सर्व कर्मों को ईश्वरार्पण करें।

"यम"

अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः ॥ योग–द० २.३०

अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह, ये पाँच यम हैं। यम ये इसलिये कहलाते हैं कि ये साधक को जीवन में ऊँचा उठने के लिये हिंसा, झूठ, चौरी, व्यभिचार आदि से उपरत करते हैं–रोकते हैं–पृथक् करते हैं–हटाते हैं। अब क्रमशः इन का वर्णन किया जाता है—

[1]अहिंसा

अहिंसा---सब प्रकार से, सब समयों में, सब प्राणियों

---

१. अनभिद्रोहोऽहिंसा । यो० द० २.३० ॥ द्रोह शब्द "द्रुह जिघांसायाम्" मारने की इच्छा। द्रुह्यति (दिवा०)। द्रोह-जिघांसा–मारने की इच्छा, अभिद्रोहः-चहुँ ओर से सब प्रकार से किसी को मारने-समाप्त करने-नष्ट करने-नेस्तनाबूद करने–तहस–नहस करने की भावना को अभिद्रोह कहते हैं। ऐसी भावना को समाप्त करके जो व्यवहार किया जाता है उसे अनभिद्रोह अर्थात् अहिंसा कहते हैं।

के साथ, मन से भी द्रोह छोड़कर-वैर त्याग कर प्रीतिपूर्वक वर्तना अहिंसा कहलाती है। इस अहिंसा से अगले जो शेष सत्य-अस्तेय आदि यम और शौच-सन्तोष आदि नियम हैं वे सब अहिंसामूलक ही हैं, ये सब उस अहिंसा की सिद्धि के लिये ही प्रतिपादित किये जाते हैं, ये सब उस अहिंसा को निर्मल रूप प्रदान करने के लिये ग्रहण किये जाते हैं–जीवन में अपनाए जाते हैं। जैसा कि पंचशिखाचार्य ने कहा है "यह ब्राह्मण जैसे-जैसे बहुत से व्रतों ([1]सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य

---

१. अब यदि सत्य न बोलकर असत्य बोला जाए, चोरी से बचने के स्थान पर चोरी की जाए, ब्रह्मचर्य का पालन न कर के व्यभिचार आदि किया जाए, परिग्रह से-संग्रह से बचने के बजाए परिग्रह किया जाय-संग्रह किया जाये, बाहर-भीतर की शुद्धि के स्थान पर बाहरी शरीर वस्त्र और स्थान तथा भीतर के मन बुद्धि आदि को अशुद्ध-अपवित्र रखा जाये, अपने कर्मों के आधार पर मिले हुए धन-धान्य आदि में सन्तोष न कर के दूसरे के धन-धान्य आदि को लोभ-लालच से देखा जाए वा प्राप्त किया जाए, उद्देश्य की प्राप्ति के लिये तप-त्याग न करके यों ही धोंगा-मस्ती से उस को प्राप्त करने का प्रयास किया जाए इत्यादि इन सब कर्मों से दूसरों को दुःख-हानि कष्ट-पोड़ा आदि पहुँचती है। इसलिये वह अहिंसा मलिन हो जाती है। और अगर सत्य-अस्तेय ब्रह्मचर्य अपरिग्रह आदि का जी-जान से पालन किया जाये तो फिर उस अहिंसा में निखार पैदा होता है, अतः इन सब को अहिंसा मूलक कहा गया है।

आदि और शौच, सन्तोष, तप आदि नियमों) को धारण करता जाता है वैसे-वैसे वह प्रमाद से किये हुए हिंसा आदि के कारण रूप लोभ, क्रोध और मोह रूप पापों से निवृत्त होता हुआ-पृथक् होता हुआ-बचता हुआ उसी विशुद्धरूप-निर्मलरूप-स्वच्छरूप अहिंसा का पालन करता है।

सत्य

यमों में यह दूसरा यम है। सत्य जो मनुष्य के मन में है, वही वाणी में हो। मनुष्य ने जैसा देखा हो, जैसा सुना हो, अर्थात् जैसा चक्षु-श्रोत्र आदि इन्द्रियों से साक्षात् किया हो-अनुभव किया हो, जैसा अनुमान किया हो, वैसा ही वाणी से बोले और मन में धारण करे। दूसरे मनुष्य में जब वह अपना ज्ञान-बोध संक्रान्त करे-दूसरे मनुष्य तक जब वह अपने ज्ञान को पहुँचाए तो उस समय जो वाणी वह बोले उस में किसी भी प्रकार का छल-कपट वा [1]धोखा-

---

१. सामान्य जन अपने दैनिक जीवन में अपने घर परिवार में वा व्यापार-व्यवहार में प्राय: झूठ बोल दिया करते हैं। जैसे घर में बच्चा दवाई नहीं पीता तो उस का पिता कहता है—'बेटा! दवाई मीठी है।'' बच्चा कहता है ''पिता जी दवाई कड़वी है।'' पिता फिर कहता है, 'बेटा ! पी कर तो तो देख···।' यह कह कर पिता ने उसे जल्दी से दवाई पिला पी। दवाई वास्तव में कड़वी थी पर झूठ बोल कर मीठी बता-

धड़ी नहीं होनी चाहिये, उस में कोई भ्रम-भ्रान्ति उत्पन्न करने वाली बात नहीं होनी चाहिए, उद्देश्य से उल्टी वा निरर्थक बात नहीं होनी चाहिये। वह वाणी जो बोली जाए वह सब प्राणियों के उपकार के लिये ही प्रवृत्त हुई होनी चाहिये, प्राणियों के उपघात के लिये नहीं–प्राणियों के हनन के लिये नहीं। यदि इस की कही हुई वाणी प्राणियों के उपघात के लिये–प्राणियों के विनाश के लिये हो तो फिर वह सत्य नहीं है, वह तो फिर पाप ही है। उस पुण्यरूप प्रतीत होने वाली पापरूप वाणी से तो मनुष्य बहुत बड़े कष्टों को ही प्राप्त होता है। इसलिये मनुष्य को चाहिये कि वह अच्छी प्रकार से परीक्षा कर के–अच्छी प्रकार से सोच-विचार कर के सब प्राणियों का हित जिस से होता हो–सब प्राणियों का भला जिससे होता हो, ऐसा सत्य बोले। इस प्रकार का सर्वोपकारी–सर्वहितकारी सत्य ही वास्तव में अहिंसा के स्वरूप को निखार कर मनुष्य को अहिंसक बना देता है। तभी कहा गया है कि सत्य, अस्तेय

कर जल्दी से उस को पिला दी। ऐसे अनेकों झूठ हम आए दिन बोलते रहते हैं, पर साधक ऐसे झूठों से नहीं वरन् हास्य-परिहासों में भी बोले जाने वाले झूठों से हृदय से नित्य बचते रहने का प्रयास करता है, तभी ही वह अपने आचरण से अपने लक्ष्य के प्रति निरन्तर निकट होता जाता है।

आदि यम और शौच–सन्तोष आदि नियम साधक की इसी अहिंसा को ही अवदात रूप प्रदान करने वाले हैं ।

अस्तेय

स्तेय कहते हैं चोरी को–परस्वापहरण को–दूसरे के धन-धान्य के अपहरण को । शास्त्रवर्जित रीति से बिना पूछे दूसरों के द्रव्यों को–पदार्थों को जो उठा लिया जाता है–अपने काम में ला लिया जाता है, उसे स्तेय कहते हैं, चोरी कहते हैं । ऐसे उस स्तेय का–ऐसी उस चोरी का जिस में अभाव हो उसे 'अस्तेय' कहते हैं । और यह अस्तेय यहाँ तक ही नहीं है कि हम शास्त्र की आज्ञा के अनुसार किसी दूसरे के धन–धान्य के अपहरण करने से अपने आप को बचा लेते हैं । व्यास जी लिखते हैं कि— "हम वास्तव में 'अस्तेय' के सच्चे पालन वाले तब कहला सकेंगे जब कि हम अपने आप को इतना ऊपर उठा लेंगे कि हमारे हृदय में भी दूसरों के धन-धान्यों को–दूसरों की वस्तु, व्यक्ति वा स्थानों को स्पृहापूर्वक देखने–ललचाई दृष्टि से निहारने वा ललचाई दृष्टि से उपभोग करने की भावना भी नहीं रहेगी ।

जो भी योगी जन इस 'अस्तेय' का पालन करते हैं उन का जीवन फिर एक ऐसी खुली पुस्तक बन जाता है

कि फिर उस में कोई दुराव-छिलाव नहीं रह पाता। हम सामान्य जन् यदि कोई खाने की वस्तु बच्चे को अनुकूल नहीं होती—माफिक नहीं होती तो हम उस को फिर बच्चों से छिपा कर खाते हैं। ऐसे ही कोई एक वस्तु हम किसी एक को देना चाहते हैं और दूसरों को नहीं, तो फिर जिस को देते हैं तो वह छिपा कर देते हैं, कोई खाद्य पदार्थ एक को खिलाना चाहते हैं दूसरों को नहीं तो फिर जिस को खिलाते हैं उसे छिपा कर खिलाते हैं। ऐसे ही हम किसी का हित-उपकार करना चाहते हैं और किसी के प्रति उदासीन रहना चाहते हैं, तो भी जिनका हित—उपकार करते हैं वह गुप्त रूप से करते हैं। यह सब स्तेय कर्म हम प्रायः सदा करते रहते हैं। पर इस मार्ग का जो सच्चा अनुयायी है वह यह सब कुछ करने से हृदय से बचने का पूर्ण प्रयास करता है। क्योंकि वह इन सब छोटी-छोटी बातों में भी स्तेय-चोरी का अनुभव करता है। इस प्रकार जो हृदय से इस 'अस्तेय' को अपना लेता है, उस से फिर किसी को कोई गिला शिकवा नहीं रहता, फिर किसी को कोई दुःख—कष्ट वा हानि नहीं होती। इस प्रकार का 'अस्तेय' रूप यह यम 'अहिंसा' के रूप को ऐसा निखार देता है कि फिर वह साधक सब के लिये हार्दिक श्रद्धा और सम्मान का पात्र बनता है, अन्यथा घर-परिवार छोड़कर भी—साधु-सन्यासी

होकर भी-विरक्त आश्रमों में रह-रह कर भी कई इस स्तेय वृत्ति के कारण किसी के अत्यन्त प्रिय, श्रद्धास्पद और किसी के अत्यन्त अप्रिय, अश्रद्धास्द बन जाते हैं, और फिर इन संसारी जनों के तुल्य वे भी उन सब के स्नेह वा घृणा के-मान और अपमान के, सत्कार और तिरस्कार के भाजन बन जाते हैं। अतः सच्चे साधक इस विषय में सदा सतर्क रहते हैं।

ब्रह्मचर्य

ब्रह्मचर्य कहते हैं उपस्थेन्द्रिय के संयम को-गुप्तेन्द्रिय के संयम को। शरीर में जो रज-वीर्य उत्पन्न हो, साधक को चाहिए-[योगिन वा] योगी को चाहिये कि वह जी-जान से उस की रक्षा करे। उस की रक्षा के लिये वह सतत् अन्य इन्द्रियों पर भी अपना पूर्ण नियन्त्रण करे। अर्थात् वह अपनी आँखों से सदा भद्र देखे, कानों से सदा भद्र सुने, पैरों से सदा भद्र स्थानों पर जाए, हाथों से सदा भद्र करे, वाणी से सदा भद्र बोले, रसना से सदा भद्र पदार्थों का सेवन करे, नासिका से सदा भद्र सूंघे, त्वचा से सदा भद्र स्पर्श करे, मन से सदा भद्र सोचे, बुद्धि से सदा भद्र विचारे। इस प्रकार जब कोई [साधिका वा] साधक

[योगिन वा] योगी सदा अपनी चक्षु, श्रोत्र, रसना = [जिह्वा] त्वचा हस्त-पाद मन बुद्धि चित्त आदि इन्द्रियों पर संयम रखेगा और अपना समय सदा स्वाध्याय सत्संग साधना और लोकोपकार में लगायेगा, तो यह सब करते हुए धीरे-धीरे उस में बड़ी पवित्र एवं ऊँची भावनाएँ उत्पन्न होंगी, जो योगी को संसार के लिये निर्दोष बना देंगी। इस के परिणाम स्वरूप फिर उस का संयम सहज हो जायेगा और उस के भीतर रहने वाले रज-वीर्य की रक्षा भी फिर सहज ही हो जायेगी। इस से उस की अहिंसा में अत्यन्त निखार पैदा होगा और सब की उन में श्रद्धा बढ़ेगी, विश्वास बढ़ेगा। इस के विपरीत यदि कोई साधक–योगी हृदय से ब्रह्मचर्य का पालन न करे अर्थात् वह असंयमी रहें। खाने-पीने, सोने-जागने, हास-परिहास करने आदि में जो चञ्चल चित्त हो, अर्थात् इन के विषय में जो मर्यादाओं का अतिक्रमण करता हो, तो वह फिर चाहे विद्वान् हो चाहे संन्यासी हो, घर-परिवार में रहता हो वा किसी आश्रम-मठ में वा किसी वन-अरण्य में रहता हो, उस से जहाँ वह स्वयं अपने लक्ष्य से च्युत होगा-पतित होगा वहाँ उस के व्यवहारों से दूसरों को भी कष्ट होगा, हानि होगी, दूसरों की आशाओं और विश्वासों पर पानी भी फिरेगा अर्थात् दूसरों की हिंसा भी होगी। अतः

साधक को चाहिये कि वह इस विषय में प्रभु साक्षी में सदा सतर्क रहे। ऐसा करने से वह जहाँ अपने लक्ष्य को सिद्ध कर सकेगा वहाँ वह अपनी अहिंसा के स्वरूप को भी दिव्य बना कर सब के स्नेह-सम्मान और श्रद्धा का पात्र बना सकेगा। यही इस ब्रह्मचर्य रूप यम का लक्ष्य है।

अपरिग्रह

परिग्रह कहते हैं-चहुँ ओर से संग्रह करने को और अपरिग्रह कहते हैं चहुँ ओर से संग्रह न करने को। साधक विषयों के संग्रह करने अर्थात् धन-सम्पत्ति को इकट्ठा करने, फिर उस की रक्षा करने अर्थात् उस को सम्भालने और फिर उस के नष्ट हो जाने - समाप्त हो जाने में तथा उस के संग में–उपभोग में सर्वत्र हिंसा रूप दोष को देखकर उन विषयों को स्वीकार नहीं करता, यही अपरिग्रह है। कम से कम जिस से उसकी जीवन यात्रा पूरी हो सके उतने मात्र का ही स्वीकार करना, उस से अधिक का स्वीकार न करना, यही यहाँ अपरिग्रह का अभिप्राय है। साधक जब इस अपरिग्रह रूप यम का दिल से पालन करता है तो इस से वह अपनी अहिंसा के स्वरूप को निखारता हुआ सब के प्रेम और श्रद्धा का पात्र बनता है। इस के विपरीत यदि वह संसारी जनों

के समान धन-वैभव का संग्रह करता रहता है तो उस के उस संग्रह से तब उस समाज में जो अव्यवस्था उत्पन्न होती है-जो एक व्यक्ति के धन-अन्न आदि के अधिक संग्रह से समाज में अभाव उत्पन्न होता है, उससे लोगों को दुःख हानि और कष्ट पहुँचता है जिस से कि उस की अहिंसा मलिन हो जाती है, और अप्रत्यक्ष रूप में वह फिर हिंसक बन जाता है तथा समाज की दृष्टि में वह गिर जाता है। अतः साधक अपरिग्रह रूप यम का हृदय से पालन कर यथोचित साधनों को ही स्वीकार कर अपनी अहिंसा के स्वरूप को समुज्वल करता हुआ सब की श्रद्धा का पात्र बनता है।

ये पाँचों यम 'व्रत' कहाते हैं और जो भी साधक-योगी इन का जी-जान से पालन करता है, वह व्रती कहाता है, पर अगर इन ही अहिंसा सत्य अस्तेय ब्रह्मचर्य आदि यमों का-व्रतों का 'जाति-देश-काल और समय से अनवच्छिन्न होकर-अप्रतिबद्ध होकर अर्थात् इनकी सीमाओं के बन्धन से रहित होकर-इनकी सीमाओं से ऊपर उठकर जब चित्त की [१ क्षिप्त-मूढ़- विक्षिप्त-एकाग्र और निरुद्ध इन] सब अवस्थाओं में पालन किया

१ क्षिप्त मूढ़- विक्षिप्त एकाग्र आदि चित्त की अवस्थाएं कहाती हैं। (योग)

जाता है तो फिर ये ही अहिंसा सत्य अस्तेय आदि यम महाव्रत बन जाते हैं, और इनका पालन करने वाला साधक-योगी महाव्रती कहलाने लगता है।

अब यह जाति-देश-काल और समयावच्छिन्न अहिंसा वह होती है कि जिसके अनुसार किसी मनुष्य की अहिंसा किसी जातिविशेष-वर्गविशेष, देशविशेष, कालविशेष, समय-विशेष-प्रयोजन विशेष की सीमाओं में बन्धी हुई रहती है। जैसे एक मछियारा-मच्छली पकड़ने वाला-मच्छली मार कर बेचता है वा खाता है, तो उस व्यक्ति की मच्छलियों के मारने में तो हिंसा होती है पर दूसरी भेड़ बकरी सूअर मुर्गी आदि जातियों के प्राणियों में अहिंसा ही रहती है। इसलिये यह जात्यवच्छिन्न अहिंसा हुई–जातिविशेष के प्राणियों तक सीमित रहने वाली अर्थात् जातिविशेष के जन्तुओं की सीमाओं में बन्धी रहने वाली अहिंसा हुई। इसलिये यह अहिंसा तो है, व्रत तो है, और इस अहिंसा व्रत के पालन करने वाले का नाम व्रती भी है, परन्तु यह अहिंसा जात्यवच्छिन्न होने से-जाति विशेष के प्राणियों की सीमाओं में बन्धी रहने से यह पूर्ण अहिंसा नहीं कहला सकती--यह महाव्रत नहीं कहला सकती। जिस दिन यह अहिंसा जात्यनवच्छिन्न हो जायेगी–जाति विशेष के प्राणियों की समाओं को-वर्गविशेष के प्राणियो

की हद को लाँघ कर सब के प्रति समान रूप से अपनाई जायेगी, अर्थात् जिस में किसी को भी, किञ्चित् भी, कभी भी, कष्ट-हानि पहुँचाने की बात नहीं होगी, उस समय यह अहिंसा पूर्ण अहिंसा कहलायेगी, यह सार्वभौम-आलमगीर अहिंसा कहलायेगी, यह महाव्रत कहलायेगी, और इसका पालन करने वाला पूर्ण अहिंसक कहलायेगा-महाव्रती कहलायेगा।

इसी प्रकार देशावच्छिन्न अहिंसा वह होती है कि जिस में मनुष्य यह सोचता है कि "मैं किसी देशविशेष में-किसी स्थान विशेष में अर्थात् मथुरा वृन्दावन काशी हरिद्वार वा मन्दिर मस्जिद गुरुद्वारे गिरजे आदि में हिंसा नहीं करूँगा। अर्थात् ऐसे स्थानों पर मैं पूर्णतया अहिंसा का पालन करूँगा परन्तु अन्यत्र मैं अहिंसा का पालन नहीं करूँगा अर्थात् अन्यत्र मैं हिंसा कर सकता हूं।" ऐसा सोचने वाला अहिंसक तो है, परन्तु उस की अहिंसा देश विशेषों-स्थान विशेषों तक सीमित रहने से पूर्ण अहिंसा नहीं कहला सकती, और न ही वह महाव्रत कहला सकती है।

कालावच्छिन्न अहिंसा वह कहलाती है जो काल की सीमाओं में बन्धी हुई रहती है, जिस को अपनाने

वाला व्यक्ति सोचता है कि—"मैं एकादशी, चतुर्दशी पूर्णमासी वा मंगलवार आदि के दिन किसी को हिंसा नहीं करूँगा, अर्थात् इन दिनों में मैं अहिंसक रहूंगा, पर इन से भिन्न दिनों में मैं हिंसा कर सकता हूँ—मैं मछली मुर्गा आदि मार कर खा सकता हूँ।" ऐसे व्यक्ति की यह जो अहिंसा हुई यह पूर्णाहिंसा नहीं हुई, सार्वकालिक अहिंसा नहीं हुई। अतः यह अहिंसा व्रत तो कहला सकती है, यह व्रत तो है पर महाव्रत नहीं। इस लिये काल की इन सीमाओं में बन्धी हुई अहिंसा का पालन करने वाला व्रती तो कहला सकता है, पर वह महाव्रती कभी नहीं कहला सकता।

समयावच्छिन्न अहिंसा वह होती है कि जिस में मनुष्य यह कहता है कि—"मैं समय विशेष पर वा अवसर विशेष पर किसी प्रयोजन विशेष के लिये गौ-ब्राह्मण की रक्षा के लिये हिंसा करूँगा, अन्यत्र हिंसा नहीं करूँगा। अर्थात् देव-ब्राह्मणों, बाल-वृद्धों वा अनाथ-असहायों की रक्षा-सुरक्षा के निमित्त तो मैं आततताईयों को मारूँगा, उन का मैं वध करूँगा, यद्वा क्षत्रिय बन कर देश की रक्षा के निमित्त तो युद्ध में शत्रुओं का मैं हनन करूँगा, पर अन्यत्र नहीं। यह है मेरी समय-अवसर-विशेष से की गई हिंसा। इस के अतिरिक्त तो मैं सर्वत्र

अहिंसा का ही पालन करूँगा।" यह हुई समयावच्छिन्न-समय की सीमाओं में बन्धी हुई अहिंसा। अतः यह पूर्ण अहिंसा नहीं हुई।

ऐसे लोगों की यह जो अहिंसा है, यह अहिंसा तो है, पर पूर्ण अहिंसा नहीं, सार्वभौम अहिंसा नहीं। व्रत तो है, पर महाव्रत नहीं। पूर्णाहिंसा तो यह तब कहलायेगी, महाव्रत तो यह तब कही जायेगी जबकि जातिविशेष-वर्गविशेष-प्राणिविशेष की, देशविशेष, स्थानविशेष, कालविशेष वा समयविशेष-प्रसंगविशेष-प्रयोजनविशेष-अवसरविशेष की सीमाओं से ऊपर उठ कर सर्वदा सर्वथा सब प्राणियों के प्रति [1,2]चित्त की सभी अवस्थाओं में बिना हेर फेर के अर्थात् सहज रूप से इस का पालन किया जायेगा। अर्थात् जब कुछ भी, कहीं भी, कभी भी; किसी प्रयोजन के लिये किसी की भी हिंसा न की जायेगी तो तब वह अहिंसा सार्वभौम अहिंसा कहायेगी, महाव्रत कहायेगी।

ऐसे ही जो किसी जातिविशेष अर्थात् वर्ग विशेष के

---

१. क्षिप्त मूढ विक्षिप्त एकाग्र और निरुद्ध, ये सब चित्त की अवस्थाएं हैं।

२. इस प्रकार के अहिंसा आदि महाव्रतों का पालन तो जगत् में कोई विरला ही योगीकर पाता है। और ऐसा जो कर पाता है वह बड़ा ही महान् तपस्वी योगी होता है।

प्राणियों के साथ मन वचन कर्म से सत्य व्यवहार करता है और अन्यों के साथ असत्य व्यवहार करता है, फिर वह देशविशेष–स्थानविशेष अर्थात् काशी, हरिद्वार, मथुरा, वृन्दावन वा मन्दिर मस्जिद गुरुद्वारे में तो सत्य बोलता है पर अन्यत्र असत्य बोलता है; फिर वह कालविशेष में अर्थात् एकादशी, चतुर्दशी वा मंगलवार वा प्रातः सायम् तो सत्य बोलता है पर अन्य कालों में झूठ बोलता है, फिर वह [1]समयविशेष–प्रसंगविशेष वा प्रयोजनविशेष के लिये तो सत्य बोलता है पर वैसे वह झूठ बोल देता है। तो ऐसे व्यक्ति का जो सत्य है वह जाति-देश-काल और समयावच्छिन्न है–जाति देश काल और समय की सीमाओं से बन्धा हुआ है, अतः वह सत्य तो है–व्रत तो है, पर वह पूर्ण सत्य नहीं, वह महाव्रत नहीं। पूर्ण सत्य तो वह तब होगा–महाव्रत तो वह तब होगा जब कि वह जातिविशेष-वर्गविशेष की, देशविशेष-स्थानविशेष की, कालविशेष-समयविशेष की, प्रसंगविशेष-अवसरविशेष आदि की सीमाओं को लाँघ कर बोला जायेगा। तभी उस को बोलने वाला

१. जैसे किसी के प्राणों की रक्षा होती है तो ऐसे अवसर में असत्य बोलने के सिवाय वा हंसी–मजाक में-हास-परिहास में असत्य बोलने के अतिरिक्त मैं असत्य कभीं नहीं बोलूँगा। दुर्भिक्ष के बिना मैं कभी झूठ नहीं बोलूँगा। यह सत्य समयावच्छिन्न-अवसर विशेष की सीमाओं में बोला गया सत्य है।

योगी तपस्वी भी कहलायेगा, महाव्रती भी कहलायेगा। इसी प्रकार अस्तेय–चोरी का त्याग भी ब्रह्मचर्य का पालन भी और [1]अपरिग्रह का पालन भी, जब कोई जाति-देश-काल और समय-प्रसंगविशेष की सीमाओं से ऊपर उठ कर करता है, अर्थात् जो सर्वदा-सदा, सर्वथा-सब प्रकार से, सब प्राणियों के प्रति अस्तेय ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह वृत्ति को अपनाए रखता है, तात्पर्य यह है कि जो कुछ भी, कहीं भी, कभी भी, किसी की भी, मन से भी चोरी नहीं करता; जो कुछ भी, कहीं भी, कभी भी, किसी के प्रति मी वासना भरे भाव नहीं रखता; जो कुछ भी, कहीं भी, कभी भी आवश्यकता से अधिक परिग्रह–संग्रह नहीं करता, तो ऐसे योगी का जो सत्य है, ऐसे योगी का जो ब्रह्मचर्य है और ऐसे योगी का जो अपरिग्रह है, वह पूर्ण अर्थात् सार्वभौम सत्य, पूर्ण अर्थात् सार्वभौम ब्रह्मचर्य और पूर्ण अर्थात् सार्वभौम अपरिग्रह बन जाता है, वह महाव्रत बन जाता है और उस का पालन करने वाला महाव्रती बन जाता है।

सारांश यह है कि ये सारे अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह रूप जो यम हैं ये एक सीमा के

---

१. अपरिग्रह—अत्यन्त आवश्यक आवश्यकता से अधिक भोग्य साधनों का संग्रह न करना।

भीतर भी व्रत के रूप में पालन किये जाते हैं। पर जब एक योगी इन अहिंसा सत्य आदि यमों के पालन में सारी सीमाओं को तोड़ कर इन को सार्वभौम बना देता है, अर्थात् जब उस के ये अहिंसा, सत्य आदि धर्म सारी जातियों के [प्राणियों के] लिये हो जाते हैं, सारे देशों के लिये हो जाते हैं, सब कालों के लिये हो जाते हैं, और प्रत्येक अवसर के लिये हो जाते हैं, तात्पर्य यह है कि चाहे कुछ भी क्यों न हो जाए पर अगर वह इन के पालन करने में तनिक सी भी त्रुटि नहीं करता तो तब उस के ये व्रत महाव्रत बन जाते हैं और वह स्वयं महाव्रती बन जाता है।

नियम

शौच सन्तोष तपः स्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः ।।
योग० २.३३ ।।

शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वरप्रणिधान, ये पांच नियम हैं ।

शौच

शौच प्रथम नियम है । शौच कहते हैं पवित्रता को । यह शौच–पवित्रता भी दो प्रकार की होती है, एक बाह्य–बाहर की और दूसरी आन्तरिक–अन्दर की–भीतर की । बाहर की शुद्धि–पवित्रता, मिट्टी–पानी आदि से शरीर, वस्त्र स्थान आदि को शुद्ध रखने और पवित्र हित-मित खान–पान आदि के सेवन से होती है । भीतर की शुद्धि-पवित्रता [1]सुखी जनों–सुख-सौभाग्य से सम्पन्न मनुष्यों को देखकर उन के विषय में मित्रता की भावना रखने से–दुःखी जनों को देखकर उन के विषय में दया की भावना रखने से, पुण्यात्माओं-धर्मात्माओं-महात्माओं को देखकर उन के विषय में प्रसन्नता की भावना रखने से और अपुण्यात्माओं-पापा-

१. योगदर्शन—१.३३ ।

त्माओं को देखकर उन के विषय में उदासीनता की भावना रखने से ईर्ष्या—जलन, घृणा, द्वेष, असूया आदि चित्त के के मलों को धोना कहलाती है। अथवा अहिंसा सत्य-भाषण सत्संग स्वाध्याय आदि शुभ गुणों के आचरण द्वारा भीतर के राग द्वेष मद मात्सर्य आदि चित्त के मलों का प्रक्षालन करना आन्तरिक शौच—भीतरी शुद्धि कहलाती है। इस बाहर—भीतर की शुद्धि से—पवित्रता से साधक अपने लक्ष्य की ओर सहज ही बढ़ता रहता है।

सन्तोष

नियमों में सन्तोष दूसरा है। अपनी सामर्थ्य के अनुसार पुरुषार्थ करने पर जो कुछ भी प्रभु की न्याय-व्यवस्था से उपलब्ध हो उसी में सन्तुष्ट रहना, प्रसन्न रहना, तृप्त रहना और मन से भी कभी किसी की वस्तु व्यक्ति और स्थान आदि को अभिलाषा भरी दृष्टि से न देखना सन्तोष कहलाता है। साधक को चाहिये कि अपने पुरुषार्थ से जो [1]रूखी-सूखी मिले उस में ही वह सन्तोष करे, दूसरों की चुपड़ी हुई रोटी को देखकर वह कभी भी, कहीं

१. रूखी-सूखी खाय के ठण्डा पानी पी।
देख पराई चोपड़ी न तरसावे जी॥

भी अपना जी न तरसावे । अब अगर इस के विपरीत कोई तृष्णा करे—लालसा करे तो यह तो ऐसी आग है कि इस पर कितना भी कुछ क्यों न डाल दिया जाए फिर भी यह निरन्तर बढ़ती ही जाती है । और जितनी भी यह तृष्णा बढ़ती जाती है, सुख उतना ही घटता जाता है। इसलिये सन्तोष रूपी जल जितना भी इस तृष्णा पर छिड़का जायेगा उतनी ही यह तृष्णा—लालसा घटती जायेगी । और जितनी ही यह तृष्णा—लालसा घटती जायेगी उतना ही साधक सुखी होता जायेगा । किसी संस्कृत के कवि ने ठीक ही कहा है—

सन्तोषामृततृप्तानां यत्सुखं शान्तचेतसाम् ।
कुतस्तद्धनलुब्धानामितश्चेतश्च धावताम् ॥

सन्तोष रूप अमृत के पान से तृप्त हुए शान्तचित्त जनों को जो सुख मिलता है वह धन आदि की लालसा में इधर–उधर मारे-मारे फिरने वलों को कहाँ मिल सकता है ! अन्यत्र भी कहा गया है— "सन्तोषमूलं हि सुखं दुःख-मूलं विपर्ययः" सुख का आधार सन्तोष ही है, इसके विपरीत जो तृष्णा है वह तो दुःख का ही मूल है। इसलिये साधक को चाहिये कि वह अपने समीप वर्तमान साधनों में ही सन्तोष अनुभव करता हुआ अपने लक्ष्य की ओर अग्रसर हो ।

तप

तीसरा नियम है तप। तप कहते हैं द्वन्द्व सहन को। अपने उद्देश्य की प्राप्ति में जो भी कष्ट सहन करना पड़े उस को प्रेमपूर्वक सहना तप कहलाता है। महाभारत में यक्ष ने जब युधिष्ठिर से कुछ प्रश्न पूछे तो उन में से एक प्रश्न यह भी पूछा कि— "तपः किं लक्षणम् ?" तप का क्या लक्षण है ? तो इस के उत्तर में महाराज युधिष्ठिर बोले कि—"तपः स्वधर्मवर्त्तित्वम्" हे यक्ष ! अपने कर्तव्य कर्म को निरन्तर करते रहना ही तप है।" यह द्वन्द्व क्या है—जिसे सहन करना तप कहाता है। क्षुधा–तृष्णा–भूख-प्यास, शीत–उष्ण-सर्दी-गर्मी, मान-अपमान, स्थान-आसन और मौन में काष्ठ मौन और आकारमौन अर्थात् काष्ठ समान किञ्चित् भी चेष्टा न करना अर्थात् संकेत से भी अपने अभिप्राय को न प्रकट करना काष्ठमौन और मुख से न बोलना आकार मौन आदि का नाम द्वन्द्व है। अपने लक्ष्य की प्राप्ति में मन प्राण इन्द्रियों और शरीर को उत्तम अभ्यास से वश में कर के जो उपर्युक्त द्वन्द्वों को सहन किया जाता है, यही तप कहाता है। ऋषि दयानन्द के शब्दों में जैसे सोने को अग्नि में तपा कर निर्मल कर देते हैं वैसे ही आत्मा और मन को धर्माचरण और शुभ

गुणों के आचरण रूप [वा उपर्युक्त द्वन्द्व सहन रूप] तप से निर्मल-स्वच्छ कर देना तप कहाता है। साधक को चाहिये कि वह तप करत हुआ लक्ष्य की ओर बढ़े।

स्वाध्याय

स्वाध्याय नियमों में चोथा नियम है। महर्षि व्यास जी लिखते हैं कि मोक्ष की ओर ले जाने वाने जो वेदादि सत्य शास्त्र हैं उनका अध्ययन करना और प्रणव अर्थात् ओंकार का जप करना स्वाध्याय कहलाता है।

इस स्वाध्याय शब्द पर हम वैसे भी विचार करें तो भी यह हमारे जीवन को बहुत उत्तम प्रेरणा दे सकता है। स्वाध्याय कहते हैं "सु अध्ययनं स्वाध्यायः" अर्थात् जो सु-अध्ययन है-जो उत्तम अध्ययन है, वही सुख कर अध्ययन है। इस के अनुसार जो अच्छे-अच्छे शास्त्रों का पढ़ना है, वही स्वाध्याय है। इसी प्रकार जो स्व अध्ययन है, स्व अर्थात् अपना अध्ययन है, जो अपने आप को पढ़ना है–विचारना है कि–"मैं इस संसार में किस लिये आया हूँ, क्या मैं कर रहा हूँ और क्या मुझे करना चाहिये, यह सब भी स्वाध्याय का अर्थ है।" इसी तरह 'स्व' कहते हैं अपने धन-वैभव वा स्त्री–पुत्र आदि को, तो इस के अनुसार यह

विचार करना कि— "जिस धन–वैभव वा स्त्री–पुत्र रूप 'स्व'–सम्पत्तियों में मैं इतना डूबा हुआ हूँ उन के सम्बन्ध में विचार करना कि आखिर ये सब मेरे साथ कब तक के साथी हैं.........?"

इस प्रकार यदि साधक यह विचार करता रहेगा तो वह इन सब धन–वैभवों का, स्त्री–पुत्रों का सेवन करता हुआ भी इन से सदा ऊपर उठा–उठा हुआ सा उत्तम–उत्तम गीता–उपनिषद्–योगदर्शन एवं वेदादि अध्यात्म मार्ग के प्रेरक शास्त्रों को पढ़ता हुआ "मैं किस लिये संसार में आया हूँ ?" इस उद्देश्य को जान कर उस के प्रति सदा सजग रहेगा। और अपने उद्देश्य के प्रति सजग रहकर ओंकारादि का जप करता हुआ अपने परम लक्ष्य परमेश्वर की ओर वह अग्रसर हो सकेगा, जो कि स्वाध्याय का चरम लक्ष्य है–अन्तिम लक्ष्य है।

ईश्वर प्रणिधान

पाँचवाँ नियम है–'ईश्वर प्रणिधान।' ईश्वर प्रणिधान कहते हैं–ईश्वर अर्थात् उस परम गुरु परमात्मा में अपने सब कर्मों को अर्पण कर देना। इस ईश्वर प्रणिधान को–

ईश्वर के प्रति अपने आप को पूर्णतया समर्पित कर देने को भक्ति विशेष की संज्ञा भी दी जाती है।

अब जिस भी साधक में इस भक्तिविशेष का प्रादुर्भाव हो जाता है वह फिर जो भी कुछ करता है, वह प्रभु के लिये ही करता है--जो भी कुछ करता है वह प्रभु को समर्पण करने के लिये ही करता है। अब जब कोई संसार में ही अपने से किसी ज्येष्ठ और श्रेष्ठ व्यक्ति को कुछ फल वस्त्रादि देना चाहता है तो वह सोचता है कि वह फल वा वस्त्र आदि सड़ा-गला न हो कर उत्तम से उत्तम होना चाहिये, तो फिर भला जिस साधक की अपने प्रभु में भक्ति-विशेष है, अत्यन्त निष्ठा है, वह भला फिर ऐसे सड़े-गले असुन्दर कर्म कैसे कर सकता है? वह तो फिर जहाँ भी, जब भी, जो भी कुछ कर्म करेगा वे बड़े उत्तम ही करेगा। क्योंकि उस ने उन कर्मों को अपने प्यारे और सब जग से न्यारे प्रभु को समर्पित करने हैं। सो यह ईश्वरप्रणिधान ऐसा है कि वह साधक को समाधिस्थ तक कर देता है।

इस प्रकार ये उपर्युक्त ५ नियम उपासना का दूसरा अङ्ग हुए।

इस प्रकार चाहे शय्या पर लेटा हुआ हो वा आसन

पर बैठा हुआ हो वा मार्ग पर चल रहा हो, अपने स्वरूप में स्थित हुआ, संशय आदि वितर्क जाल जिसके क्षीण हो गए हों ऐसा वह संसार के बीज को क्षय करने का अभिलाषी साधक नित्य परमपिता परमात्मा में युक्त हुआ-हुआ अमृत भोग का भागी होता है—मोक्ष सुख को प्राप्त करने वाला होता है। जिसके सम्बन्ध में योग दर्शन १.२९ में कहा गया कि—"उस से अन्तर्यामी परमात्मा की प्राप्ति और विघ्नों का नाश होता है।"

इस तरह पहले ५ यम और ये ५ नियम हुए। बुद्धिमान् को चाहिये कि वह अहिंसा सत्य आदि यमों का निरन्तर सेवन करे, केवल शौच आदि नियमों का नहीं। क्योंकि जो अहिंसा सत्य आदि यमों को छोड़ कर केवल नियमों का सेवन करता है वह गिर जाता है।

अब इन नियमों के पालन में यदि विघ्न उपस्थित हों तो उनके प्रतिकार का उपाय बतलाते हैं।

वितर्कबाधने प्रतिपक्षभावनम् ।। योग० २. ३३ ।।

वितर्कों अर्थात् हिंसा झूठ चोरी आदि द्वारा इन यम-नियमों का बाध होने पर प्रतिपक्ष का चिन्तन करे।

यम और नियमों के विपरीत जो हिंसा, झूठ, चोरी ब्रह्मचर्य का अभाव और परिग्रह; अशौच, असन्तोष, तप

ा अभाव, स्वाध्याय का अभाव और ईश्वर से विमुखता
ूप अधर्म हैं, वे वितर्क कहाते हैं। अब जीवन में किसी
ी दुर्बलता के कारण जब ये वितर्क उत्पन्न होने लगें
ौर उन यम–नियमों के पालन करने में बाधा पड़ने लगे
ो उस समय साधक को चाहिये कि वह प्रतिपक्ष की
ावना करे–प्रतिपक्ष का चिन्तन करे। अर्थात् वह उन
हिंसा झूठ चोरी आदि वितर्कों से भविष्य में होने वाले
ुःख-कष्ट आदि रूप फल का चिन्तन करे। जैसे किसी के
पकार करने पर ब्राह्मण वा योगी के चित्त में धर्म
िरोधी हिंसा झूठ चोरी आदि वितर्क उत्पन्न होने लगें
ह सोच कर कि "मैं तो किसी का कुछ बुरा नहीं करता,
र फिर भी जब कोई व्यक्ति मेरा अपकार करता है तो
ब मैं उस अपकारी का हनन करूँगा, मैं उस बुरा करने
ाले को मारूँगा, यदि उस को हानि वा कष्ट पहुँचाने के
िये मुझे झूठ भी बोलना पड़ा तो मैं वह भी बोलूँगा,
उस के धन-वैभव को भी चुराऊँगा, यहाँ तक कि मैं
स की स्त्रियों का शील भी भंग करूँगा, अर्थात् उस की
त्रयों से व्यभिचार भी करूँगा, मैं उस के धन-वैभव का
ामी भी बनूँगा। [1]और यानी इस तरह शौच सन्तोष

1. ऐसे निकृष्ट विचार कभी–कभी बड़े–बड़े महापुरुषों में भी आ जाते हैं जिन से साधकों को अत्यन्त हानि होती है।

तप स्वाध्याय और ईश्वर प्रणिधान आदि सब नियमों क
छोड़ कर भी जब उस व्यक्ति से बुरी तरह बदला ले
को मन चाहे तो इस प्रकार उस कुमार्ग की ओर झुका
वाला प्रचण्ड वितर्क ज्वर जब उस अभ्यासी को सताए त
तब वह इस के प्रतिपक्षों का अर्थात् विरोधी भावों क
चिन्तन करे। वह यह कि–"जब संसार की घोर अग्नि
तप-तप कर-सन्तप्त हो-हो कर किसी पुण्यविशेष के प्रभा
से उस से बचने के लिये मैं ने सर्वप्राणियों को अभय दा
दे कर दुःखों के मूल कारण हिंसा आदि वितर्कों क
परित्याग कर के सुखविशेष तथा ज्ञान रूप फल वा
अहिंसा अत्य आदि यम-नियमों का आश्रय लिया है
अत्यन्त कल्याणकारी योगधर्म का आश्रय लिया है,
इस प्रकार यदि अब मैं उस को छोड़ कर पुनः उन पू
त्यागे हुए हिंसा झूठ चोरी आदि वितर्कों–पापों
ग्रहण करूँ तो निश्चय ही यह मेरा वान्तावलेही कु
जैसा कर्म होगा। क्योंकि त्यागे हुए–वमन किये हुए का पु
ग्रहण करना–चाटना तो कुत्ते का ही स्वभाव है, मनु
का नहीं। अतएव मुझ को इस दुःखमयी संसाराग्नि के त
से बचने के लिये त्यागे हुए हिंसा आदि वितर्कों का ग्रह
कभी नहीं करना चाहिये।" यों प्रतिपक्ष का चिन्तन क

से पुनः योगी के चित्त में हिंसा आदि वितर्क कदापि नहीं आते और वह फिर निर्विघ्नता पूर्वक यम-नियमों का अनुष्ठान करता हुआ अबाध गति से अपने लक्ष्य की ओर अग्रसर होता रहा है।

अब इन वितर्कों के स्वरूप, प्रकार, कारण, धर्म तथा फल का निरूपण करते हुए प्रतिपक्ष भावना का स्वरूप दर्शाते हैं।

[1]ये हिंसा झूठ चोरी आदि वितर्क कृत अर्थात् स्वयं किए हुए, कारित अर्थात् दूसरों से कराए हुए और अनुमोदित अर्थात् अनुमोदन किये हुए; लोभ क्रोध और मोहरूप कारण से उत्पन्न होने वाले; मृदु, मध्य और तीव्र धर्म वाले—भेद वाले तथा अनन्त—असीम दुःख और अज्ञान रूप फल के देने वाले हैं। यह प्रतिपक्ष भावना है—यह प्रतिपक्ष का चिन्तन है।

अब यम-नियमों के विरोधी जो हिंसा झूठ चोरी आदि वितर्क हैं—पाप हैं,उन के तीन भेद हैं, स्वयं किये हुए, दूसरों ये कराए हुए और अनुमोदन अर्थात् ताईद किये हुए। उन के कारण हैं लोभ क्रोध और मोह।

१ योग० २.३४ ॥

उन के मृदु, मध्य और तीव्र ये तीन धर्म हैं। इन सब का फल कभी न समाप्त होने वाला दुःख और अज्ञान है। इस प्रकार साधक प्रतिपक्ष का चिन्तन करे तो वह इन हिंसा आदि वितर्कों से बचता हुआ कल्याणकारी योग मार्ग का सच्चा पथिक बनकर कभी न कभी अपने लक्ष्य को पा ही लेगा।

उन वितर्कों में से उदाहरण के लिये हिंसा को लेते हैं। यह अहिंसा तीन प्रकार की होती है। एक जो 'कृत'–जो स्वयम् अपने मन वचन कर्म से दूसरे की हिंसा की जाय; दूसरी कारित, जो स्वयं तो हिंसा न की जाए पर दूसरों से कराई जाए; तीसरी 'अनुमोदित' जो न तो स्वयं की जाए और न दूसरों से कराई जाए वरन् केवल हिंसा करने वाले का अनुमोदन किया जाए वा उस के करने वाले की प्रशंसा आदि कर के उसको वैसा करने को प्रोत्साहित किया जाए। इस प्रकार यह अहिंसा तीन प्रकार की हुई। इन में से एक-एक फिर तीन-तीन प्रकार की है। जैसे (१) लोभ से प्रेरित हो कर अर्थात् माँस और चर्म के लोभ से प्रेरित होकर की गई, कराई गई और अनुमोदन की गई हिंसा; (२) क्रोध के कारण की गई, कराई गई और अनुमोदन की गई हिंसा [जैसे इस ने मेरा अपकार किया, अतः इस पर मेरा गुस्सा है,

अतः मैं इसे मारूँगा, इसे मरवाऊँगा और इसके मारने वाले का अनुमोदन करूँगा।] (२) मोह से की गई, कराई गई और अनुमोदन की गई हिंसा। जैसे यह पापी है, अतः इस के मारने से मेरा धर्म होगा, स्वयं नहीं मार सकता तो औरों से इसे मरवाऊँगा, अगर मरवा भी न सका तो इसे मारने वाले का अनुमोदन करूँगा। इस प्रकार यह हिंसा ३ × ३ = ९ प्रकार की हुई। फिर यह ९ प्रकार की हिंसा में से प्रत्येक मृदु, मध्य और तीव्र भेद से तीन-तीन प्रकार की होने से ९ × ३ = २७ प्रकार की अहिंसा हुई। इस के आगे मृदु, मध्य और तीव्र के फिर तीन-तीन भेद किये गए। मृदु मृदु, मृदु मध्य, मृदु तीव्र; मध्य मृदु, मध्य मध्य, मध्य तीव्र; तीव्र मृदु, तीव्र मध्य, तीव्र तीव्र। इस प्रकार २७ × ३ = ८१ प्रकार की यह हिंसा हुई। इसी प्रकार इसी हिंसा के आगे चल कर और भी बहुत से प्रकार हो जाते हैं जिनका विस्तार भय से यहाँ वर्णन नहीं किया जा रहा है। इसी प्रकार झूठ, चोरी, व्यभिचार, परिग्रह, अशौच, असन्तोष, अतप, अस्वाध्याय आदि के विषय में भी जानना चाहिए।

इस तरह जब योगी के हृदय में किसी भी कारण से जब ये हिंसा, मिथ्याभाषण, चोरी आदि वितर्क उठें

तो उसे इस प्रकार चिन्तन करते हुए यह परिणाम निकालना चाहिये कि ये हिंसा आदि वितर्क पाप कर्म हैं–दुष्टकर्म हैं। और अगर मैं इन-इन पापकर्मों से–इन-इन दुष्टकर्मों से नहीं बचूँगा तो फिर इन का जो फल दुःख कष्ट पीडा आपत्ति और अज्ञान आदि होगा, उस का भी फिर कभी अन्त नहीं होगा। अतः मुझे इन से बचने के लिये इस प्रकार प्रतिपक्ष की भावना करते हुए इन से जी जान से बचने का प्रयास करना चाहिये। इसी में मेरा हित है–इसी में मेरा कल्याण है। इस प्रकार प्रतिपक्ष भावना से वह अपने को इन हिंसा आदि वितर्कों से बचा लेना और फिर निर्विघ्नता पूर्वक यम-नियमों का पालन कर सकेगा।

अब जब यम नियम का यथावत् अनुष्ठान किया जाता है तो उस का जो परिणाम होता है, जो फल होता है, वह बतलाते हैं—

अहिंसा के अनुष्ठान का फल

अहिंसा प्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्यागः ॥

योग० २.६५ ॥

अहिंसा की प्रतिष्ठा होने पर–अहिंसा की दृढ़ स्थिति होने पर–अहिंसा की सिद्धि हो जाने पर उस के

समीपवर्ती प्राणियों में भी वैर का त्याग हो जाता है।

जब कोई योगी जाति, देश, काल और समय [-प्रसंग विशेष] की सीमाओं को तोड़ कर सब प्रकार से सब समयों में, सब प्राणियों के प्रति मन वचन और कर्म से अहिंसा पूर्वक व्यवहार करता है, तो शनैः शनैः वह इस अहिंसा के पालन करने में सुप्रतिष्ठित हो जाता है। इस अहिंसा में सुप्रतिष्ठित हो जाने पर जहाँ फिर संसार के किसी भी प्राणी के प्रति किञ्चित् भी, कहीं भी, कुछ भी वैरभाव उस योगी में नहीं रह पाता, वहाँ उस के संग के रंग से अन्यों में भी वैरभाव का अभाव हो जाता है। यहाँ तक कि उसके प्रभाव से हिंस्र स्वभाव वाले प्राणी भी अपने हिंस्र स्वभाव को छोड़ देते हैं। मन वचन कर्म से सच्चे अहिंसक योगियों की यह पहचान होती है।

यों तो एक व्यक्ति अपने हन्टर के आतङ्क से सर्कस में बकरी और शेर को भी एक पात्र में पानी पिला देता है, पर योगी के अपने आन्तरिक अहिंसक जीवन का एक ऐसा अद्भुत प्रभाव होता है जिस से प्रभावित हुए-हुए हिंस्र प्राणी भी अपना वैरभाव छोड़ कर सहज ही उस के समीप विचरने लगते हैं। महात्मा नारायण

स्वामी जी योग रहस्य में इस सूत्र की व्याख्या करते हुए लिखते हैं कि— "छोटे बालक सर्वथा निर्दोष होते हैं। उनकी भीतरी अहिंसा आदि [निर्दोषता] की झलक, उन बच्चों की भोली आँखों, उन के भोले चेहरे की आकृति आदि से देखने वालों को आ जाया करती है। कई बार देखा और सुना गया है कि इसी प्रकार के बालकों को भेड़िया उठा ले गया, परन्तु उन की अहिंसापूर्ण आँखों को देखते ही भेड़ियों के भीतर से हिंसावृत्ति जाती रही और ऐसे बच्चों को मारने के बजाए उन (भेड़ियों) ने उन की रक्षा की, और उन्हें पाल-पोस कर बड़ा किया। ऐसे ही भेड़ियों के द्वारा पाला हुआ एक १३-१४ वर्ष का बालक इटावा के कलेक्टर द्वारा आर्यसमाज बरेली के अनाथालय में लाया गया था। उस में अधिकतर बातें भेड़ियों की चबड-चबड कर पानी पीना आदि उस समय भी बाकी थीं। मनुष्य का हृदय भी अहिंसा के अभ्यास से जब ऐसा ही निर्दोष हो जाता है तो तब उस के साथ भी कोई वैर नहीं कर सकता।

1 अमेरिका के एक तपस्वी थोरियो के लिये किसी ने

१ योग रहस्य पृष्ठ ६ (लेखन महात्मा नारायण स्वामी)

लिखा है कि जब वह वाल्डन नामक झील के किनारे रहता हुआ अहिंसा का अभ्यास करता था तो उसके शरीर से शहद की मक्खियाँ लिपट जाती थीं, परन्तु कोई भी मक्खी उसे डसती नहीं थी, बिच्छू पाँव से लिपट जाते थे, परन्तु वे भी उसे डंक नहीं मारते थे2।" इसी प्रकार की बात महाकवि बाण ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ "हर्ष चरित" में लिखी है। उस ने एक जगह लिखा है कि एक बार राजा हर्षवर्धन एक तपोभूमि में गया, जहाँ का आचार्य दिवाकर था और जहाँ अनेक ब्रह्मचारी शिक्षा पाते थे। वहाँ राजा ने देखा कि उन अहिंसक गुरु शिष्यों के प्रभाव से सिंहों ने उनके लिये हिंसावृत्ति को त्याग दिया था और वे उन की तपोभूमि में उसी प्रकार रहते थे जैसे पाले हुए घरेलू कुत्ते।

सत्य के अनुष्ठान का फल

सत्यप्रतिष्ठायां क्रियाफलाश्रयत्वम् ॥ योग० २.३६ ॥

सत्य में प्रतिष्ठित हो जाने पर–सत्य में पूर्णतया स्थित हो जाने पर योगी की वाणी में क्रिया और फल का आश्रयत्व हो जाता है। अर्थात् योगी जब मन वचन और कर्म से सतत सत्य का आचरण करता रहता है तो फिर उस की वाणी अमोघ हो जाती है, अर्थात् फिर

2 Walden by thoreau

वह कभी व्यर्थ नहीं जाती है। ऐसी स्थिति में वह जो कुछ भी कहता है वह पूर्ण होता है। यदि वह किसी को कहता है कि (धार्मिको भूया इति भवति धार्मिकः) तू धार्मिक हो जा, तो फिर वह धार्मिक हो जाता है। और यदि वह किसी को यह कहता है कि (स्वर्गं प्राप्नुहीति स्वर्गं प्राप्नोति) तू स्वर्ग को–सुखविशेष को प्राप्त हो जा, तो फिर वह व्यक्ति स्वर्ग अर्थात् सुखविशेष को ही प्राप्त हो जाता है। ऋषिवर दयानन्द के शब्दों में कहा जाए तो यह कहा जा सकता है कि–"सत्याचरण का ठीक-ठीक फल यह है कि जब मनुष्य निश्चय कर के केवल सत्य ही मानता, [सत्य ही] बोलता और [सत्य ही] करता है, तब वह जो-जो योग्य काम करता और करना चाहता है, वे-वे सब [काम उसके] सफल हो जाते हैं। जैसे महात्मा गान्धी जी यदि किसी को खादी पहनने का उपदेश करते थे तो वह व्यक्ति बड़ी श्रद्धा से खादी पहनना आरम्भ कर देता था, अगर वे किसी को देश की स्वतन्त्रता के लिये कार्य करने का उपदेश देते थे तो फिर वह व्यक्ति अपने सब कार्यों को छोड़ कर उस कार्य में भी लग जाता था। पर यदि उसी खादी पहनने की बात वा देश पर बलिदान हो जाने की बात कोई हमारे जैसा व्यक्ति करता था, तो उस को उत्तर

मिलता था कि -'बकवास बन्द करो, हमें जो अच्छा लगेगा हम वही पहनेंगे, और जो अच्छा लगेगा हम वही करेंगे ।" तभी कहा गया है कि सत्य के अभ्यासी की वाणी अमोघ होती है–अप्रतिहत फल वाली होती है–सफल और सुफल होती है ।

अस्तेय के अनुष्ठान का फल

अस्तेय प्रतिष्ठायां सर्वरत्नोपस्थानम् ।। यो० २.३७ ।।

अस्तेय में प्रतिष्ठित होने पर–चोरी के त्यागने में अर्थात् चोरी न करने में मन वचन और कर्म से निश्चल हो जाने पर सब रत्न प्राप्त होने लगते हैं ।

मनुष्य की जब नीयत शुद्ध हो जाती है तो फिर वह मन से भी, कभी भी, किसी दूसरे की वस्तु की स्पृहा नहीं करता-चहना नहीं करता । ऐसे निर्लोभी-ऐसे निःस्पृह व्यक्ति को फिर जीवन में किसी भी प्रकार की कमी नहीं रहती । सभी वस्तुएं उसे तब सहज ही स्वयमेव प्राप्त होने लगती हैं । चहुँ ओर के लोगों में उस के प्रति श्रद्धा और विश्वास बढ़ने लगता है । यही अस्तेय का फल है ।

वेद में साधक को इस स्थिति तक पहुंचाने के लिये अपने ढंग से बड़ा ही सुन्दर उपदेश दिया गया है, वह

यह कि—"मा गृधः"—हे साधक ! तू बाहर से किसी की वस्तु को उठाने वा चुराने की बात तो दूर रही, तू तो मन से भी किसी की वस्तु वा स्थान आदि को अभिलाषा भरी दृष्टि से न देख। सचमुच जिस दिन साधक मन की इस लालसा पर–इस स्पृहावृत्ति पर विजय पा लेता है, उसी दिन से वह अस्तेय में प्रतिष्ठित हो जाता है। और जिस दिन वह अस्तेय में प्रतिष्ठित हो जाता है, उसी दिन से ही चहुं ओर से उस के प्रति श्रद्धा बढ़ने लगती है और हर एक फिर अपना धन-वैभव उस को समर्पण करने में सुख अनुभव करता है।

ब्रह्मचर्य के अनुष्ठान का फल

ब्रह्मचर्य प्रतिष्ठायां वीर्यलाभः ॥ योग० २.३८ ॥

ब्रह्मचर्य में प्रतिष्ठित हो जाने पर—ब्रह्मचर्य में दृढ़ स्थिति हो जाने पर वीर्य का लाभ होता है।

जो योगी निश्चय से ब्रह्मचर्य का अभ्यास करता है [ब्रह्म में विचरण करता हुआ उस का चिन्तन भी करता है, उस को जानने के लिये ब्रह्म-वेद में भी विचरण करता है। अर्थात् वह उस का भी स्वाध्याय करता है तो] उस को उस अभ्यास के सुदृढ़ हो जाने पर अतिशय

वीर्य का लाभ होता है। अर्थात् उस की सामर्थ्य बहुत बढ़ जाती है। भोजवृत्ति के अनुसार "वीर्य निरोधो हि ब्रह्मचर्यम्"--"वीर्य का रोकना ही ब्रह्मचर्य। है।" इस प्रकार उस योगी के शरीर में वीर्य बढ़ने से शरीर इन्द्रिय और मन अधिक बलवान् हो जाते हैं। अर्थात् उस का देहबल मनोबल और ऐन्द्रियक बल खूब बढ़ जाता है। इस से उस की विचार शक्ति जो योग के मार्ग में अत्यन्त सहायक होती है; वह भी बढ़ जाती है। अतः साधक योगी को चाहिये कि वह अपनी सफलता के लिये ब्रह्मचर्य का जी-जान से पालन करे।

अपरिग्रह के अनुष्ठान का फल

अपरिग्रहस्थैर्ये जन्मकथन्तासंबोधः ॥योग० २.३६॥

अपरिग्रह के स्थिर हो जाने पर–अपरिग्रह के संसिद्ध हो जाने पर जन्म क्यों हुआ, कैसे हुआ; इत्यादि का सम्यक् बोध हो जाता है।

साधक को यह ध्यान रखना चाहिये कि केवल बाह्य पदार्थों का–भोग के साधनों का संग्रह न करना ही अपरिग्रह नहीं कहलाता–केवल संसार के विषयों के ग्रहण करने की इच्छा का परित्याग करना ही अपरिग्रह

नहीं कहलाता, जैसे कि प्रायः समझा जाता है, वरन् अपने शरीर में ममत्व का परित्याग भी अपरिग्रह कहलाता है । क्योंकि जब साधक की अपने शरीर में ममता नहीं रहती तो तभी उस का उस में राग भी छूट जाता है, जो आगे चल कर उस के तत्त्वबोध का हेतु–कारण बन जाता है ।

अतः साधक-योगी को चाहिये कि वह पहले बाहरी पदार्थों के परिग्रह करने–संग्रह करने की वृत्ति का परित्याग करे, फिर स्त्री-पुत्र आदि-आदि का ममत्व छोड़े, पुनः अपने शरीर में भी ममत्व करने से बचे, तो इस क्रम से शनैः शनैः उसकी वृत्ति अन्तर्मुख होती जायेगी और अन्त में उस के अपरिग्रह के पूर्ण सिद्ध हो जाने पर उस को यह बोध हो जायेगा कि "मैं कौन था, कैसा था, क्यों था, अब क्या हूं, कैसा हूँ, क्यों हूँ, आगे क्या हूँगा, कैसा हूँगा, क्यों हूँगा इत्यादि ।" वास्तव में जब तक यह मानव अपने चहूँ ओर के नानाविध पदार्थों से– धन-धान्य, सोने-चान्दी, कार-कोठी, जमीन जायदादों आदि से घिरा हुआ है, अपने स्त्री-पुत्रों से, [1]पोते–पोतियों

१ जैसे आर्य विरक्त वानप्रस्थ आश्रम में एक वानप्रस्थ महानुभाव थे, ७५ के होने के उपरान्त भी पोते-पोतियों, दोहते-

से, दोहते दोहतियों आदि-आदि से घिरा हुआ है, अपने शरीर आदि की ममता से घिरा हुआ है, तब तक तो यह इन सब से आगे बढ़ कर कुछ सोच ही नहीं सकता। यों तो यह प्रभु का ही नाम जपता रहता है, यों तो यह पीले और गेरुए वस्त्र पहन कर वानप्रस्थ और संन्यास का ही प्रदर्शन कर रहा होता है, पर भीतर से इसे इन सब पदार्थों की टूट-फूट को देखने और उस को मुरम्मत करवाने वा उस को [2]चोर-डाकू आदि से बचाए रखने

दोहतियों में मोहवश इतने फँसे हुए थे कि उन्होंने एक ऐसी निधि बनाई थी कि जिस में से उस के मरणोपरांत भी सभी पोते-पोतियों, दोहते-दोहतियों के विवाहों में इतने-इतने वस्त्र रुपया दिया जाए इत्यादि।

२ चन्दोसी में एक व्यक्ति जिस को आयु ६०-१०० के मध्य थी, उस की अपनी तो कोई सन्तान नहीं थी, हाँ भाई का एक बेटा ही उस ने गोद लिया हुआ था। वह और उस के भाई का सब परिवार एक मकान में रहता था। साथ वाले मकान में भाई का जामाता सपरिवार रहता था। सामने वाले दोनों मकानों मे से एक में उस के भाई के जामाता के भाञ्जे रहते थे। दूसरे में भाई के जमाता की पहली शादी की ससुराल रहती थी। इन चारों मकानों का एक ही मुख्य द्वार था। छत भी ऐसी थी कि चारों पर आसानी से घूमा जा सकता था। अतः यह ६०-१०१ वर्ष का बूढ़ा सज्जन रात रात को जब-जब भी उस की आँख खुलती थी, चारों छतों पर

की चिन्ता से ही फुरसत नहीं मिलती–अवकाश नहीं मिलता। इन पदार्थों से यदि वह सौभाग्यवश कुछ आगे बढ़ भी गया तो फिर इस का स्त्री-पुत्र, पुत्र-पोत्र, दुहितृ-दौहित्र आदि में ममत्व होने से उन की देखभाल से ही इसे फुरसत नहीं होती-उनकी चिन्ता से ही इसे मुक्ति नहीं मिलती, फिर अपने शरीर में अत्यन्त ममत्व होने से तो उस के खान-पान, उस के रहन-सहन, उस के दवा दारु की ही चिन्ता से जब इस के मन को मुक्ति नहीं मिलती, तो फिर भला ऐसा व्यक्ति किस प्रकार अन्तर्मुख होकर अपने उद्देश्य की ओर अग्रसर हो सकता है, तभी ही तो शनैः शनैः ब्रह्म सर्वविधि पदार्थों से, स्थानों से, व्यक्तियों से, पुनः अपने शरीर आदि से मन से पृथक हट-हट कर भीतर की ओर आगे बढ़ने के लिये प्रेरित किया गया है।

ये सब सिद्धियाँ–ये सब फल अहिंसा सत्य अस्तेय आदि यमों की स्थिरता से प्राप्त होते हैं। अब नियमों

घूम-घूम कर देखता रहता था, यह विचार कर कि—'ये सब तो बेहोश सोए रहते हैं, कहीं इन्हें चोर डाकू लूट न ले जाए इत्यादि।'' अब जिस के ममत्व का क्षेत्र ऐसा है, वह भला रात को इन एकान्त वेलाओं में अपने इस ममत्व के क्षेत्र को बान्ध कर कैसे अन्तर्मुख हो सकता है? इसलिये आत्मविवेक के लिये अपरिग्रह की बहुत आवश्यकता है।

के सम्बन्ध में सिद्धियाँ बतलाते हैं–फल बतलाते हैं।

[i] शौच के अनुष्ठान का फल

शौचात् स्वाङ्गजुगुप्सा परैरसंसर्गः ॥योग० २.३०॥

बाह्य शौच से–बाह्य शुद्धि से अपने ही शरीर से ग्लानि वा घृणा और दूसरों से संसर्ग का अभाव होता है।

जब साधक-योगी पुनः पुनः अपने शरीर को मिट्टी, जल आदि-आदि से शुद्ध-पवित्र अर्थात् साफ-सुथरा करते हुए भी बार-बार जब फिर उसे अशुद्ध-मलिन-गन्दा हुआ-हुआ देखता है तो इस से उसे अपने ही शरीर से ग्लानि वा घृणा हो जाती है। अब इस प्रकार उसे अपने ही शरीर से जब ग्लानि वा घृणा-नफरत हो जाती है तो फिर भला वह दूसरों के शरीरों की कैसे चाहना कर सकता है, दूसरों के शरीरों से भला कैसे संसर्ग कर सकता है?

वैसे भी जब बुद्धिमान् जन इस शरीर के सम्बन्ध में यह सोचते हैं कि "मल-मूत्रादि से लिप्त योनि एवं गर्भाशय में यह रहा है, स्त्री-पुरुष के रज-वीर्य से यह बना है, अस्थियों का यह एक पञ्जर है जो मल-मूत्र-स-रक्त-मांस आदि से युक्त हुआ-हुआ त्वचा से आवे-

ष्टित है, इस की त्वचा के छिद्रों से पसीना निकलता है, मुख नासिका नेत्र श्रोत्र पायु उपस्थ आदि से इस के मल प्रवाहित होता रहता है । पुनः पुनः शुद्ध-साफ किये जाने पर भी प्रायः यह अशुद्ध ही बना रहता है । मरणोपरान्त तो यह बिल्कुल ही अस्पृश्य हो जाता है, तो फिर वे इस शरीर को अशुचि-अपवित्र ही कहते हैं ।

इस प्रकार एक बुद्धिमान् साधक-योगी जब अपने ही शरीर में अशुचि बुद्धि होने पर उस से ग्लानि अनुभव करता है को फिर वह दूसरों के शरीरों के साथ सम्बन्ध की इच्छा कैसे कर सकता है ? वह तो फिर एकान्तवासी हो कर अध्यात्ममार्ग में ही प्रवृत्त होगा ।

[ii] शौच के अनुष्ठान का फल

सत्त्वशुद्धिसौमनस्यैकाग्र्येन्द्रियजयात्मदर्शनयोग्यत्वानि च

॥योग० २.४१॥

आभ्यन्तरिक शौच अर्थात् भीतर की शुद्धि से बुद्धि की शुद्धि, मन की स्वच्छता-प्रसन्नता, एकाग्रता, इन्द्रिय का जय तथा आत्मदर्शन, अर्थात् आत्मा के साक्षात्कार करने की योग्यता आती है ।

बाह्य और आन्तरिक पवित्रता से जब साधक-योगी

की बुद्धि शुद्ध-निर्मल हो जाती है, तो फिर उस का मन प्रसन्न हो जाता है। प्रसन्न मन फिर चञ्चलता से रहित होकर सब प्रकार से एकाग्र हो जाता है। इस प्रकार मन के एकाग्र हो जाने से–मन के जीते जाने से उस के आधीन जो इन्द्रियाँ होती हैं वे भी फिर सहज ही वश में हो जाती हैं। यह सब होने पर फिर उस साधक-योगी में आत्मा के दर्शन करने की–आत्मा का साक्षात्कार करने की योग्यता आ जाती है।

सन्तोष के अनुष्ठान का फल

सन्तोषादनुत्तमसुखलाभः ॥योग० २.४२॥

सन्तोष से [1]अनुत्तम अर्थात् जिस से बढ़ कर कोई उत्तम न हो ऐसे सुख का लाभ होता।

संसार में योगी की जब सन्तोष में स्थिरता हो जाती है तो फिर उस के भीतर से एक ऐसे सुख का स्रोत प्रस्फुटित होता है कि जिस के सम्मुख फिर यह सुख कुछ सुख नहीं रहता। किसी कवि ने सच ही कहा है कि—

---

१ अनुत्तमः- न विद्यते उत्तम यस्मात्तादृशमनुत्तमं सुखं तस्य लाभ अनुत्तमः। जिससे उत्तम कोई न हो ऐसा सुख अनुत्तम सुखलाभ कहलाता है।

यच्च कामसुखं लोके यच्च दिव्यं महत्सुखम् ।
तृष्णाक्षयसुखस्यैते नार्हतः षोडशीं कलाम् ॥

संसार में जो भी काम सुख–विषयसुख अर्थात् भोगों का सुख है एवं जो इस से भी बढ़ कर दिव्य सुख है–महान् सुख है, यह सब सुख मिल कर भी उस तृष्णा-क्षय–वासनाक्षय अर्थात् तृष्णाओं के–वासनाओं के क्षय होने से जो सुख मिलता है, उसकी सोलहवीं कला [सोलहवें भाग] के समान भी नहीं है। ऋषिवर दयानन्द के शब्दों में सन्तोष से जो सुख मिलता है वह सब से उत्तम है। और उसी को "मोक्षसुख" कहते हैं।

तप के अनुष्ठान का फल

कायेन्द्रियसिद्धिरशुद्धिक्षयात् ॥ योग० २.४३ ॥

तप से अशुद्धि के क्षीण होने पर काया–शरीर और इन्द्रियों की सिद्धि होती है।

निरन्तर तप का अनुष्ठान करते रहने से जब अशुद्धि–अर्थात् आवरण रूप मल का क्षय हो जाता है तो फिर उस अशुद्धि के क्षय से–उस आवरण रूप मल के नष्ट हो जाने से 'कायासिद्धि' हो जाती है, शरीर सब प्रकार से स्वस्थ, नीरोग, लघु और दक्ष अर्थात् फुर्तीला हो जाता है [व्यास के अनुसार अणिमा लघिमा आदि की सिद्धि हो

जाती है] और उसी प्रकार 'इन्द्रियों की सिद्धि' अर्थात् इन्द्रियों में दूर तक देखने और सुनने आदि की सामर्थ्य आ जाती है।

स्वाध्याय के अनुष्ठान का फल

स्वाध्यायादिष्टदेवता संप्रयोगः ।।योग० २.४४।।

स्वाध्याय से इष्टदेवता का-दिल चाहे देवता का सम्प्रयोग होता है।

निरन्तर स्वाध्याय करते रहने से जो वेदमन्त्रों का देवता होता है-जो वेदमन्त्रों वा सूक्तों का प्रतिपाद्य विषय होता है उस का स्वाध्यायशील साधक को सम्यक् बोध हो जाता है, भली-भान्ति साधक को उस का साक्षात् हो जाता है।

इसी तरह जब मनुष्य उत्तमोत्तम मोक्षशास्त्रों का अध्ययन करता है, प्रणव-ओंकार का जप करता है, "मैं किस लिये जगत् में आया हूँ, मैं क्या कर रहा हूँ और क्या मुझे करना चाहिये" यह सब जब वह मनन-चिन्तन करता रहता है तो इस प्रकार के स्वाध्याय से एक न एक दिन उसे अपना ही नहीं वरन् अपने इष्ट देवता परमात्मा का भी सम्यक् बोध हो जाता है-साक्षात्कार हो जाता है

जो कि उस के जीवन का परम ध्येय होता है। अतः साधक को स्वाध्याय में सदा सर्वदा सर्वथा सजग रहना चाहिये।

ईश्वरप्रणिधान के अनुष्ठान का फल

समाधिसिद्धिरीश्वर-प्रणिधानात् ॥ योग० २-४५ ॥

ईश्वरप्रणिधान से समाधि की सिद्धि होती है।

ईश्वर के प्रति जो साधक-योगी अपने सब भावों को समर्पित कर देता है, अपने सम्पूर्ण क्रिया-कलापों को समर्पित कर देता है, ऐसे उस साधक-योगी को समाधि की सिद्धि हो जाती है, जिससे कि फिर वह सब पदार्थों को यथावत् जान लेता है-ठीक-ठीक जान लेता है। वह फिर चाहे देशान्तर में हो, देहान्तर में वा कालान्तर में हो। यह ईश्वरप्रणिधान के अनुष्ठान का फल होता है। इस प्रकार यह यम-नियमों का सिद्धि सहित वर्णन हुआ-फल सहित वर्णन हुआ।